हिंदी साहित्य और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

डॉ नीलम ऋषिकल्प,

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
रामलाल आनंद कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय),
बेनितो जुआरेज रोड,
नई दिल्ली–110021

किसी भी देश या राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने के लिए जरूरी है कि उस एकता का आधार सांस्कृतिक हो। इस तर्क को दुनिया के किसी भी देश के साथ लागू किया जा सकता है। भारत के इतिहास पर यदि नजर डालें तो पता चलता है कि जब भी भारत को एकता के सूत्र में जोड़ने का प्रयास किया गया तो उसका आधार सांस्कृतिक ही रहा है। आजादी के आंदोलन के दौरान इसे साफतौर से देखा जा सकता है। सांस्कृतिक आधार के कारण ही विभिन्न धर्मों, संप्रदायों में बंटा हुआ भारत, अंग्रेजों के खिलाफ एकजुट हो गया। कश्मीर से कन्याकुमारी और असम से लेकर गुजरात तक में इस चेतना को महसूस किया गया। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा वर्ण–व्यवस्था पर आधारित है। जिसमें यह माना जाता है कि जिस तरह से समाज को चार वर्णों में बांटा गया है उसी तरह से समाज को एकताबद्ध करने की चार विधियां है। इन चारों में सांस्कृतिक आधार पर जो एकसूत्रता स्थापित होती है वह काफी विचारपरक है और मानवता का कल्याण करने वाली है। इस अवधारणा का सूत्रपात राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान किया गया जो आगे चलकर राजनीति सहित साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ने लगी। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान वीर सावरकर, माधव सदाशिव गोलवलकर, दीनदयाल उपाध्याय आदि नेताओं ने इसकी वैचारिकी भी प्रस्तुत की। माधव सदाशिव गोलवलकर ने 'हम और हमारी राष्ट्रीयता' की परिभाषा में लिखा है–'हिंदुस्तान में रहने वाले गैर हिंदुओं को हिंदू संस्कृति, भाषा अपनानी चाहिए और हिंदू धर्म का सम्मान करते हुए उसे पूज्य मानना चाहिए। हिंदू धर्म, नस्ल और संस्कृति को गौरवान्वित करने वाले विचारों के अलावा उन्हें किसी और पर ध्यान नहीं देना चाहिए।...एक शब्द में इन लोगों को विदेशी होना बंद कर देना चाहिए या फिर वे हिंदू राष्ट्र में रहेंगे, उनका कोई हक या विशेषाधिकार नहीं होगा और कुल मिलाकर नागरिकों को मिलने वाले अधिकार भी उन्हें नहीं मिलेंगे।' गोलवलकर जी का साफतौर से मानना था कि भारत को हिंदू राष्ट्र के रूप में स्थापित करके ही उसे गौरव प्रदान किया जा सकता है। भारत में जब तक एक संस्कृति नहीं होगी तब तक भारत को विश्व में श्रेष्ठ स्थान हासिल नहीं हो सकता। सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों का शुरुआती दौर से यह मानना रहा है कि संघ का दर्शन हिंदू राष्ट्रवाद है। संघ के हिसाब से भारत में रहने वाले सभी लोगों को मात्र हिंदू कहा जाना चाहिए। हिंदू कोई जातिसूचक शब्द नहीं है जिससे किसी जाति का बोध होता है। हिंदू एक संस्कृति है जिसे सभी को स्वीकारना चाहिए। हिंदू शब्द की इस अवधारणा में समूचे भारत को समाहित किया गया है। हिंदू शब्द समूचे भारत को एकसूत्रता में बांधता है और भ्रातृत्व की भावना विकसित करता है। सौरभ मालवीय इस प्रश्न को गंभीरता से उठाते हुए विचार करते हैं–'...हिंदू संस्कृति स्वभाव से ही ''आध्यात्मिक पंथ निरपेक्ष'' है। राजनीति और राज्य व्यवस्था में पंथनिरपेक्षता की वकालत

करना आसान है। हिंदू दर्शन अध्यात्म में भी पंथनिरपेक्ष और तार्किक है। वैदिक काल के ऋषि तर्क करते थे और उपनिषद काल तर्क काल है ही। फिर तो बहस का ही वातायन बना। सूत–शौनक, शंकर–पार्वती, यम–नचिकेता, अष्टावक–जनक, अर्जुन–कृष्ण और तुलसी की रामकथा में काक भुसुण्डी और गरुड़ जैसे पक्षी भी बहस करते हैं। इसी पंथनिरपेक्षी–आध्यात्मिकता और सदा लोकतंत्री जन–गण–मन व्यवस्था वाली सनातन संस्कृति से यह राष्ट्र है। इसलिए सांस्कृतिक राष्ट्र भाव ही भारत का मूल विचार है।'[1] सांस्कृतिक राष्ट्रवादी विचारक दीनदयाल उपाध्याय का मानना है कि राष्ट्र कोई भौतिक निकाय नहीं है। राष्ट्र में रहने वाले लोगों के मन में अपनी मातृभूमि के प्रति श्रृद्धा की भावना का होना राष्ट्रीयता की पहली निशानी है। हर किसी नागरिक में अपने राष्ट्र के प्रति पुलक स्वाभाविक है। यही पुलक जब मनुष्य को अपने स्वार्थों से मुक्त कर देती है तभी मनुष्य महानता की तरफ बढ़ जाता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का आधार हमारी युगों पुरानी संस्कृति है जो सदियों से चली आ रही है। यह एक सांस्कृतिक एकता है जो किसी भी बंधन से अधिक मजबूत और टिकाऊ है। यह किसी भी देश में लोगों को एकजुट करने में सक्षम है। भारत की संस्कृति भारत की देन है, यह हजारों वर्षों की साधना का फल है। भारतीय संस्कृति के जो तत्व–एकता, एकात्मता, विशालता, समन्वय आदि भारत की अपनी देन है। भारत में हिमालय एक संस्कृति है उससे समूचा राष्ट्र प्रेरित हुआ है। हजारों वर्षों से यह राष्ट्र अनेकों संप्रदायों में बंटा होने के बावजूद एक ही मूल सेतु से जीवन रस ग्रहण करता रहा है। वैसे समाज में तीन तरह के और मत प्रचलित रहे हैं। प्रथम अर्थवादी दूसरा राजनीतिवादी वर्ग है। यह वर्ग जीवन का सम्पूर्ण महत्व राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने में ही समझता है। इस वर्ग का मानना है कि राजनीतिक दृष्टि से ही संस्कृति, मज़हब तथा अर्थनीति की व्याख्या की जा सकती है। अर्थवादी उद्योगों का राष्ट्रीकरण बिना मुआवजा दिये जमींदारी उन्मूलन चाहता है तो राजनीतिवादी अपने राजनीतिक कारणों से ऐसा करने में अपने को असमर्थ मानता है। वहीं मतवादी वर्ग, मज़हब परस्त है। यह वर्ग अपने मजहब के अनुसार देश की राजनीति, अर्थनीति को बदलना चाहता है। इस प्रकार का वर्ग मुल्ला मौलवियों तथा रूढ़िवादी कट्टरपंथियों के रूप में आज भी विद्यमान हैं। जबकि चौथा वर्ग संस्कृतिवादी है। इस वर्ग की मान्यता है कि भारत की आत्मा का स्वरूप प्रमुखतया संस्कृति ही है। भारतीयता की अभिव्यक्ति राजनीति के द्वारा नहीं हो सकती अपितु भारतीयता की अभिव्यक्ति उसकी संस्कृति के द्वारा ही होगी। संस्कृति प्रधान जीवन की यह विशेषता है कि इसमें जीवन के मौलिक तत्वों पर जोर दिया जाता है। संस्कति किसी काल विशेष के बन्धन से जकड़ी हुई नहीं है अपितु यह तो स्वतंत्र एवं विकासशील जीवन की मौलिक प्रवृत्ति है। ऐसे में संस्कृति को सही ढंग से समझने की जरूरत है। संस्कृति के बारे डॉ. दयाकृष्ण वर्गीज लिखते हैं–

> *''...संस्कृति जीवन का आंतरिक सौंदर्य है। जीवन जीने की दृष्टि है। शाश्वत मूल्यों की मंजूषा है। औदात्य की प्रतिष्ठा है। पवित्रता की लेखनी से लिखा जागतिक कर्मों का पावन संविधान है। उच्चासन पर विराजमान सारस्वत मूर्ति संतों का संभाषण है। अभ्युदय का विज्ञान तथा निःश्रेयस का ज्ञान है। नैष्कर्म्य का उपनिषद तथा जीवन मुक्ति का आरण्यक है। माधुर्य की भागवत ही नहीं, कर्म की गीता भी है। जीवन का सत ही नहीं, सृष्टि का ऋण भी है। सुख का श्वास ही नहीं, सिद्धि का विन्यास भी है। नवजागरण का शंखनाद ही नहीं, प्रगति एवं समृद्धि का पांचजन्य भी है। अतः गुणात्मक है। सर्व श्रद्धेय है।...'' [2]*

सांस्कृतिक आधार पर ही आज किसी भी देश की श्रेष्ठता को जाना समझा जा सकता है। सांस्कृतिक आधार पर ही राष्ट्रों की पक्षधरता, विश्वदृष्टि को समझा जा सकता है। अमेरिका ने अफगानिस्तान में जो कुछ किया और कर रहा है उससे उसकी सांस्कृतिक क्रूरता को समझ सकते हैं। मानवाधिकार का आज जितना अधिक उल्लंघन वहां हो रहा है उतना शायद ही किसी और देश में हो रहा हो। सांस्कृतिक रूप से यदि कोई राष्ट्र अपनी श्रेष्ठता स्थापित नहीं करता है तो उसकी छवि एक अलग तरह की निर्मित होती है। आज जब पैसे की एक नई संस्कृति पनप रही है तब इस सवाल पर गहराई से विचार करना जरूरी हो जाता है।

भारतीय साहित्य पर यदि विचार किया जाए तो पता चलता है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही सदा सर्वदा से साहित्य का आदर्श रहा है। संस्कृत साहित्य, प्राकृत साहित्य, पाली साहित्य, अपभ्रंश साहित्य और लोक भाषा साहित्य सभी ने संस्कृति और राष्ट्रीयता को अपना कथ्य बनाया है। रामधारी सिंह दिनकर ने अपने निबंधों में इस पर विचार किया है। उनका एक प्रसिद्ध निबंध है–'संस्कृति है क्या?'। दिनकर जी लिखते हैं–

> *''आदिकाल से हमारे लिए जो लोग काव्य और दर्शन रचते आए हैं, चित्र और मूर्ति बनाते आए हैं, वे हमारी संस्कृति के रचयिता हैं। आदिकाल से हम जिस–जिस रूप में शासन चलाते आए हैं, कपड़े और अभिनय करते आए हैं, बरतन और घर के दूसरे सामान बनाते आए हैं, कपड़े और जेवर पहनते आए हैं, शादी और श्राद्ध करते आए हैं, पर्व और त्यौहार मनाते आए हैं...वह सब का सब हमारी संस्कृति का ही अंश है।''* [3]

इसी तथ्य को हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों और निबंधों में भी इसे देखा जा सकता है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में तथा 'कुटज', 'अशोक के फूल' आदि में इस पर गहराई से विचार किया गया है। वहीं विद्यानिवास मिश्र जी ने भी इसे अपने निबंधों में विषय बनाया है। विद्यानिवास मिश्र जी का 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, छितवन की छांह' आदि निबंध इसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं। वैसे इस तथ्य को किसी भी दौर के साहित्य में देखा जा सकता है। संस्कृति साहित्य में इसी तरह घुली मिली होती है कि उससे एक दूसरे को अलगा पाना कठिन है। साहित्य में कभी संस्कृति कथानक के रूप में तो कभी शिल्प के रूप में। आज तक के साहित्य के इतिहास में उसी साहित्य को श्रेष्ठ माना गया है जो संस्कृति को अत्यधिक अपने में समाहित किए हुए है। इसे भक्तिकालीन कवि तुलसीदास के साहित्य से लेकर आधुनिक काल के साहित्य तक में देख सकते हैं। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को पढ़ते हुए वहां के रहन सहन, आचार–विचार, पारिवारिक मूल्य सभी को देखा जा सकता है। यह मूल्य आज भी ग्रामीण समाज में कमोबेश देखे जा सकते हैं। भक्तिकालीन कवि कबीर और मीरा के काव्य पर यदि गौर करें तो पता चलता है कि इन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से समाज को सांस्कृतिक रूप से एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया है। कबीरदास के साहित्य में मौजूद सांस्कृतिक एकता को एक पद के माध्यम से देखा जा सकता है–

''हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।

रहें आबाद या जग में, हमन दुनिया से यारी क्या।।

जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर–ब–दर फिरते।

हमारा यार हैं हममें, हमन को इंताजरी क्या।।

खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है।

हमन गुरुनाम सांचा है, हमन दुनिया से यारी क्या।।...'' [4]

इस पद में कबीर जिस तरह के प्रेम की बात करते हैं वह एक अलग तरह का प्रेम है। यह ऐसा प्रेम है जिसमें भक्त और भगवान के बीच किसी भी तरह का भेद नहीं है। भक्त भगवान के प्रेम में इस तरह डूब जाता है कि वह संसार में रहते हुए भी सांसारिक विषय वासनाओं से मुक्त रहता हैं। कबीर के साहित्य में कहीं तो यह रहस्य के स्वर में मुखरित हुआ है तो कहीं किसी प्रतीक के रूप में। इसी तरह का प्रेम जायसी के 'पद्मावत' में दिखाई पड़ता है। 'पद्मावत' में राजा रत्नसेन और पद्मिनी के बीच का जो प्रेम है वह भक्त और भगवान के बीच के प्रेम जैसा है। मीराबाई अपनी पदावली में इसी प्रेम को अलग ढंग से व्यक्त करती हैं–

''माई सांवरे रंग रांची।

साज सिंगार बांध पग घूंघर, लोकलाज तज णांची।

गायां कुमत लयां साधां संगत स्याम प्रीत जग णांची।।

गायां गायां हरि गुण निसदिन, काल व्याल री बांची।

स्याम विणा जग खारां लागां, जगरी बातां कांची।.. '' [5]

ऐसे ही भक्तिकालीन दूसरे कवियों ने अपने साहित्य में इस तरह के अनोखे प्रेम की बात की है। भक्तिकालीन कवियों में प्रेम का जो रूप है उसमें सांस्कृतिक एकता की भावना प्रबल रूप में विद्यमान है। यह सभी रचनाकार एक नए तरह के समाज की संकल्पना करते हैं, जो मूलतः प्रेम पर आधारित है। यही भावना आधुनिक कालीन साहित्य में गहराई से विद्यमान दिखाई पड़ती है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र जी अपने नाटकों और निबंधों के माध्यम से भारतीय जनता को अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ खड़े होने की प्रेरणा देते हैं। नाटकों में जिस तरह की कविताएं प्रयुक्त की गई है उससे इस भाव को देखा जा सकता है।

''अंग्रेज राज सुखसाज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।

अब तो हम पै टिक्कस की आफत आई, आवहु सब रोबहु मिलकै भाई।

हा–हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।'' [6]

वहीं निबन्धों में भारतीय जनता को उसकी अर्कमण्यता के लिए घोर आलोचना करते हैं। भारतेंदु युग के अन्य लेखकों के साहित्य में इस भाव को भी देखा जा सकता है। यह सभी लेखक भारतीय जनता को सांस्कृतिक रूप से एकता के सूत्र में बांधना चाहते हैं जिससे अंग्रेजी साम्राज्य को भारत से उखाड़ा जा सके। द्विवेदी युगीन साहित्य में सांस्कृतिक राष्ट्रवादी स्वर को भी देखा जा सकता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी जहां 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से भारतीय जनता को न केवल पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान से परिचित करा रहे थे अपितु उनको अपने देश समाज के बारे में राजनीतिक रूप से चेतना संपन्न करने की कोशिश कर रहे थे। वह कांग्रेस के अध्विेशनों की खिल्ली उड़ाते हैं। जिसमें जनता के वास्तविक मुद्दे कितने उठाये जाते है? इस पर वह 'सरस्वती' जुलाई 1934 में 'देश की भक्ति' शीर्षक से टिप्पणी करते हैं–

> *''हर साल जो यह कांग्रेस होती है उसने आज तक किसानों पर अपनी कितनी भक्ति प्रकट की है? उसके किए हुए प्रस्तावों में कितने प्रस्ताव ऐसे हैं जिनसे किसानों को लाभ पहुँचने की संभावना है? कांग्रेस के जो प्रतिनिधि इस समय विलायत की हवा खा रहे हैं वे इन लोगों की कौन–कौन सी शिकायतें सुनाने के इरादे से वहाँ गये हैं?''* [7]

वह हर उस कार्यवाही की बारीकी से जांच–पड़ताल करते हैं जिससे आमजन पीड़ित है। वह भारत की जनता की समस्याओं को ही केंद्र में रखने के पक्षधर थे। वह चाहे राजनीतिक

स्तर पर हो या सामाजिक स्तर पर। द्विवेदी युग के अन्य रचनाकारों में भी इस तथ्य को जांचा जा सकता है। मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में इस स्वर को बहुत प्रभावी ढंग से सुना जा सकता है।

''जाग, जाग, जाग,

भारत संतान हिन्दू मुसलमान जाग!

मुक्ति शंख बजता गरजता, भेदकर

लक्ष भ्राताओं के हृदय रक्त से

रंजित होने वाला जलियांवाला बाग।

जाग हाथ की मुट्ठी में हरि को रखने वाला

साधन, भजन, यज्ञ–याग,

हिन्दू–मुसलमान दोनों को एक प्राण में गूंथने हेतु

जाग, कबीर, नानक, सिद्ध साधु की दीक्षा मूर्त हो।'' [8]

इसके साथ ही गुप्त जी ने पौराणिक आख्यानों को आधार बनाकर भी भारतीय जनता को अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ लड़ने के लिए प्रेरित किया है। वहीं छायावादी कविता में सांस्कृतिक राष्ट्रवादी स्वर को जयशंकर प्रसाद जी और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला जी के काव्य में साफतौर से देखा जा सकता है। प्रसाद जी जहां नाटकों में अतीत का गौरवगान करते हुए वर्तमान समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए सूत्र तलाशते हैं तो वहीं अपनी कविताओं में सीधे–सीधे कहते हैं। उनके नाटकों में जो कविताएं प्रयुक्त हुई हैं उनमें राष्ट्रवादी स्वर कूटकूट कर भरा है।

''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयं प्रभा, समुज्जवला स्वतंत्रता पुकारती।

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो, प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।।''

वहीं महाकाव्यात्मक कृति 'कामायनी' में प्रसाद जी मनु के माध्यम से आधुनिक मानव जीवन की विडंबना की कहानी कहते हुए मानवता की मुक्ति की बात की है।

''शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।

समन्वय उनका करे समस्त, विजयनी मानवता हो जाय।'' [9]

जबकि निराला जी के काव्य में सांस्कृतिक चेतना कई रूपों में दिखाई पड़ती है। एक तरफ तो वह किसानों को जागरूक करते हैं तो दूसरी तरफ अंग्रेजी साम्राज्य की आलोचना करते हैं। वह 'बादल राग' कविता में लिखते हैं–'जीर्ण बाहु है, जीर्ण शरीर/तुझे बुलाता कृषक अधीर/हे विप्लव के वीर।...' वहीं दूसरी तरफ लिखते हैं–'आज अमीरों की हवेली होगी, किसानों की पाठशाला/धोबी, पासी, चमार, तेली/खोलेंगे अंधेरे का ताला।...' 'राम की शक्ति पूजा' कविता में निराला जी ने राम को मानवीय राम के रूप में चित्रित किया है, जो कठिन समय में निराश होता है, हारता हैं और लड़ने के लिए फिर खड़ा लेता हैं। राम का हारना कोई सामान्य बात नहीं है। राम के कथानक को साहित्य में अवतारी पुरुष के रूप में ही अधिक दिखाया गया है। ऐसे में निराला जी द्वारा राम को मानवीय रूप में चित्रित करना एक अलग ढंग के यथार्थ को अभिव्यक्त करना है और मनुष्य में दृढ़ आस्था को भी पुष्ट करता है। निराला के राम का जब भी मूल्यांकन करते हैं तो उस समय के राष्ट्रीय आंदोलन को संदर्भ में रखना बहुत जरूरी है तभी हम निराला के आंतरिक संघर्ष और इस संघर्ष में छिपे सत्य को देख सकते हैं। निराला जी समाज के वह सारे विधान बदलने के पक्षधर दिखाई पड़ते हैं जो मूलतः सामंती व पूंजीवीदी प्रवृत्तियों पर आधारित हैं। वह एक ऐसे समाज का विधान करना चाहते हैं जो सांस्कृतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में बंधा हो। इसीलिए वह 'तुलसीदास' कविता में अतीत से भी प्रेरणा लेने से पीछे नहीं हटते।

''भारत के नभ का प्रभापूर्ण, शीतलच्छाय
सांस्कृतिक सूर्य।
अस्तमित आज रे तमस्तूय दिगमंडल।
उर के आसन पर शिरस्त्राण शासन करते हैं
मुसलमान।....'' [10]

उक्त कविता में निराला जी अतीत को एक प्रेरणा के रूप में याद करते हैं। यह अतीत का महिमामंडन नहीं है अपितु अतीत के माध्यम से वर्तमान का समय की चुनौतियों का सामना किया गया है। ऐसे में कहा जा सकता है कि निराला हर तरह से भारतीय जनता में सांस्कृतिक रूप से राष्ट्रवादी विचार भरना चाहते थे। वह अंग्रेजो की वास्तविकता के बारे में भी बहुत गहराई से सच्चाई बयान करते हैं–

> *''भारतवर्ष अंग्रेजों की साम्राज्य लालसा का सर्वप्रधान ध्येय रहा है। यहां की सभ्यता और संस्कृति से बहुत कम मेल खाती थी, पर सात समुद्र पार से आकर इतने विस्तृत और सभ्य देश में राज्य करना जिन अंग्रेजों को अभीष्ट था, वे बिना अपनी कूटनीति का प्रयोग किए कैसे रह सकते थे? अंग्रेजों की नीति हुई–भारतवर्ष के इतिहास को विकृत कर दो और हो सके तो उसकी भाषा को मिटा दो।...'' (सुधा, जून, 1930)* [11]

इसके साथ ही निराला जी ने हिंदुओं और मुसलमानों की एकता के लिए दोनों को फटकारा है। वह जानते थे कि जब तक दोनों के बीच वैमनस्य खत्म नहीं होगा तब तक सांस्कृतिक एकता स्थापित नहीं की जा सकती। अंग्रेजों ने दोनों के बीच फूट डालने की हर कोशिश की है। साहित्य में मनुष्य समाज की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत की जाती है साथ ही भविष्य का एक नक्शा भी प्रस्तुत किया जाता है। यह सब काम संस्कृति के माध्यम से किया जाता है। आज जब भारतीय संस्कृति को मिटान का षडयंत्र हो रहा है तब संस्कृति पर विचार करना मानवता के लिए अपरिहार्य हो जाता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आज जितना राजनीति के लिए आवश्यक है उतना ही साहित्य के लिए भी जरूरी है। इस दिशा में यदि आज के साहित्य पर गौर करें तो पता चलता है कि उद्भांत, नरेन्द्र कोहली, मृदुला सिन्हा, सूर्यबाला आदि रचनाकारों का साहित्य इसी विषय को गंभीरता से उठा रहा है। मृदुला सिन्हा की कहानियां और 'परितप्त लंकेश्वरी' जैसे उपन्यास हमारे समय के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। जिनके माध्यम से भारतीय समाज को जोड़ने की प्रक्रिया देख सकते हैं। इन रचनाकारों ने अपने साहित्य के माध्यम से पश्चिमी संस्कृति का प्रत्याखान भारतीय संस्कृति रचकर किया है। आज के स्त्री विमर्श में जिस तरह की मुक्ति की बात की जा रही है उसके विपरीत इन रचनाकारों का मानना है कि स्त्री को पुरुष की तरह मुक्त जीवन जीने की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। वह तो पहले से ही पुरुष से श्रेष्ठ है। भारतीय इतिहास में यदि हम स्त्रियों के योगदान को देखें तो इस बात के पर्याप्त सबूत मिल जायेंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सौरभ मालवीय, 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आधारशिला पर खड़ा होता भारत' http://www.sanskritikrashtravad.com/2015/04/blog-post.html
2. डॉ. दयाकृष्ण वर्गीज, 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' http://www.hinduyuvavahini.in/sanskritik.aspx
3. रामधारी सिंह दिनकर 'संस्कृति है क्या?', रामधारी सिंह दिनकर संकलित निबंध, संपादन वीरेश कुमार, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2006, पृ. 63
4. कबीर http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%B9%

E0%A4%AE%E0%A4%A8_%E0%A4%B9%E0%A5%88_%E0%A4%87%E0%A4%B6%E0%A5%8D%E0%A4%95_%E0%A4%AE%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%A4%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A4%BE_/_%E0%A4%95%E0%A4%AC%E0%A5%80%E0%A4%B0

5. मीराबाइ, http://www.hindikunj.com/2010/08/meera-ke-pad.html
6. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, 'भारत दुर्दशा', संकलित भारत दुर्दशा संवेदना और शिल्प, सिद्धनाथ कुमार, अनुपम प्रकाशन पटना, 2002, पृ. 54
7. शर्मा, रामविलास, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं0 1977, भूमिका, पृ031
8. मैथिलीशरण गुप्त उद्धृत प्रभाकर माचवे, गुप्त जी और भारतीय राष्ट्रीय कविता, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, सम्पादक : विजय अग्रवाल, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 1994, पृ. 33
9. जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी', अनुपम प्रकाशन, पटना, 2002, पृ.32
10. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'तुलसीदास', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ.11
11. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना 2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. 19

Copyright © 2018, Dr.Neelam Rishikalp. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.